बच्चों का बैंक

अमित और जयश्री

बड़वानी ज़िले का आधारशिला लर्निंग सेंटर एक आवासीय स्कूल था। छुट्टियों के बाद जब बच्चे घर से आते थे तो जेब-खर्च के लिए उनके माँ-बाप कुछ पैसे देते थे। सत्र के बीच में जब मिलने आते थे तब भी माँ-बाप कुछ-न-कुछ उनके हाथ में दे ही जाते थे। पैसों को सम्भालना बच्चों के लिए एक बड़ा काम होता था। बच्चे अपने घर से बिस्तर लाते थे और एक पेटारा[1] लाते थे जिसमें वे पैसे और अन्य कीमती सामान जैसे लहसुन व मिर्च की चटनी, नमकीन सेव, भुना आटा - पीठू[2] या कभी-कभी मेथी के लड्डू रखते थे। इन खाने की चीज़ों के साथ-साथ साबुन, तेल, और कुछ पैसे भी होते थे।

घर से आने के एक हफ्ते तक बच्चों का चोरी-छुपे, स्कूल का टेकड़ा उतरकर गाँव में रामलाल की दुकान पर जाना-आना लगा रहता था। या एक किलोमीटर दूर फिरोज़ की दुकान से कुछ खाने का सामान लेने निकल जाते थे। जब कभी हम किसी

[1] *लोहे की पेटी।*
[2] *आटे और गुड़ के लड्डू।*

काम से किसी बच्चे को ढूँढते और वह नहीं मिलता तो पता चलता था कि वह शायद चाटली गया होगा। कल ही उसके घर से कोई आया था न...।

ताले, चाबियाँ व भरोसे की परीक्षा

कई बार बच्चों के बीच झगड़ों का एक कारण साबुन, मिर्च की चटनी या पैसों की चोरी हो जाना भी होता था। खास तौर पर छोटे बच्चों को बहुत टेंशन रहता था कि कोई, कुछ चुरा न ले। हालाँकि, पेटारे में ताले डले होते थे लेकिन कई बार वे दूसरी चाबियों से भी खुल जाते थे। बड़े बच्चों को पता चलेगा कि इसके पास पैसे हैं तो माँग लेंगे। पेटारे बच्चों की सम्पत्ति होती थी। उसकी रक्षा में उनका पूरा दिमाग उलझा रहता था।

केरल के कनवु[3] स्कूल में देखा कि बच्चों का सामान खुला पड़ा रहता था। हमने भी सोचा कि यह सही आइडिया है। और हम निजी सम्पत्ति के खिलाफ भी थे। हमने बच्चों के साथ विस्तार से एक मीटिंग की और उन्हें समझाया कि कैसे अपने घरों में भी सबका सामान खुला रखा रहता है। हम लोग भी एक परिवार की तरह ही हैं। तो एक-दूसरे की चीज़ कोई क्यों उठाएगा। या कोई चीज़ नहीं है तो माँग लेना चाहिए आदि आदि। कुछ बच्चों ने ताले दे दिए। सारे ताले-चाबियाँ शिक्षकों ने जमा कर लिए। बच्चे ऐसे काम कर लेते थे, इसलिए नहीं कि वे इन बातों से सिद्धान्ततः सहमत होते थे, वे तो इसलिए कर लेते थे क्योंकि सब करने को तैयार हो गए। और उन्हें भी कुछ नई बातों में मज़ा आता था।

लेकिन चोरियाँ नहीं रुकीं। उनके माँ-बाप भी इस विचार से सहमत नहीं थे इसलिए उन्हें नए ताले लाकर दे देते थे। शिक्षक फिर ज़ब्ती करते। यह सिलसिला कुछ समय चला, फिर हमने इसका आग्रह छोड़ दिया और पेटारे पर फिर से ताले लगने लगे।

बच्चों के माता-पिता को ताले न लगाने वाली बात अच्छी नहीं लगती थी। पालक मीटिंग में भी यह बात

[3] *कनवु केरल के वायनाड ज़िले में स्थित एक वैकल्पिक स्कूल है। कनवु के बारे में अधिक जानकारी के लिए संदर्भ के अंक-70 (जुलाई-अगस्त 2010) में प्रकाशित लेख 'सीखने की जगह - कनवु' पढ़ें।*

बताई गई और एक-एक को अलग से भी समझाते थे लेकिन इस बात को वे मानते नहीं थे। इसी दौरान एक बच्चे की माँ ने बताया कि वो अपने घर में तो शक्कर, घी जैसी चीज़ें ताले में रखती हैं जिससे बच्चे निकालकर न खा लें। हमें भी समझ आया कि इस मामले में मूल्य शिक्षा सम्भव नहीं है। खैर, बात चल रही थी, बच्चों के पास पैसे रहने की और उनकी चोरी की।

टीचर्स-मीटिंग में इस मुद्दे पर चर्चा हुई और तय हुआ कि बच्चों से पैसे ले लिए जाएँ और आगे के लिए उनके माता-पिता से कहें कि बच्चे के हाथ में पैसे न दें। जब भी अभिभावक बच्चों से मिलने आते तो शिक्षक भी बच्चों के साथ जाते और अभिभावकों को इस बारे में बताते। लेकिन वे लोग नहीं मानते थे और बच्चों को पैसे दे ही जाते थे। कुछ माता-पिता को यह बात समझ में आ जाती, और वे पैसे शिक्षक को दे जाते थे और बच्चे को बता देते कि पैसों की ज़रूरत पड़े तो शिक्षक से माँग लें।

बीच-बीच में जब कोई काण्ड हो जाता था तो बच्चों के पेटारों की ज़ब्ती हो जाती थी। कुछ के पैसे पेटारों में मिल जाते थे। कुछ बच्चे कहीं छुपा देते थे। कुछ लोग खाना बनाने वाली महिलाओं को दे देते थे। इस ज़ब्ती से अच्छा माहौल नहीं

फोटो: अमित

बनता था। बच्चों के साथ शिक्षकों का रिश्ता भी खराब होता था। बच्चे झूठ बोलते थे, एक-दूसरे की चुगली करते थे।

हमें महसूस हुआ कि यह सब तो ठीक नहीं हो रहा है। शुरू तो यह सोचकर किया था कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की बुनियाद होगी लेकिन यह क्या चल रहा है!!

खैर, काफी समझाने के बाद अधिकतर माँ-बाप शिक्षकों के पास पैसे रखवाने लगे। कुछ हमारे पास भी रखवा देते थे। कुछ थोड़ा-बहुत तुरन्त खर्च के लिए दे जाते थे। कई बार ऐसा भी हो जाता था कि शिक्षक से पैसे खर्च हो जाते और जब बच्चा माँगता तब उसे पैसे नहीं मिल पाते थे। इस वजह से बच्चे नाराज़ हो जाते थे। क्लास में कई बार बच्चों के पास पेंसिल या रबर नहीं होती थी जबकि उनके पैसे शिक्षक के पास जमा होते थे। बच्चों की नज़र में शिक्षकों के पास एक और सत्ता आ गई थी जिसके कारण भी बच्चे उनसे डरते थे - यदि शिक्षक को नाराज़ किया तो कहीं ऐसा न हो कि वे पैसे ही न दें। एक बार फीस भरते समय किसी बच्चे के पिता ने बताया था कि बच्चे के कुछ रुपए शिक्षक के पास जमा हैं इसलिए फीस पूरी नहीं दी।

बच्चों का बैंक

इन सब अनुभवों से यह समझ में आया कि बच्चों के पैसे किसी एक जगह जमा किए जाएँ और उसका लेखा-जोखा रखा जाए। यहीं से बच्चों के बैंक की शुरुआत हुई। शुरुआत में इसकी ज़िम्मेदारी एक शिक्षक ने सम्भाली। एक रजिस्टर में प्रत्येक बच्चे का एक पेज बनाकर, उसका पूरा हिसाब उसमें रखा जाता था – कितने पैसे जमा किए, कितने निकाले। बैंक कोई बिल्डिंग या मोटे-से ताले वाला कमरा नहीं था। बैंक एक पेटारा था जिसमें पैसे व रजिस्टर रखे जाते थे। पेटारे में ताला था जिसकी चाभी शिक्षक के पास होती थी और पेटारा हमारे घर पर रखा जाता था।

बैंक बनने से मामला काफी हद तक सुलझ गया था। प्रत्येक रविवार को बैंक खुलता था। शुरू-शुरू में शिक्षक हमारी नज़र के सामने घर के बरामदे में बैठते थे, बाद में वे स्कूल की अन्य जगहों पर बैठने लगे। जिन बच्चों को पैसे निकालने होते थे, वे आकर पैसे निकाल लेते थे। उनके पेज पर हिसाब लिख दिया जाता था और उन्हें बता दिया जाता था कि उनके खाते में कितने पैसे बचे हैं। बैंक के रजिस्टर में नाम और हिसाब रखने के साथ-साथ बच्चों को भी एक पास-बुक दी जाती थी। इस पर एक मटके का चित्र बना था और लिखा था - बूँद-बूँद से गागर भरे, गागर-गागर से सागर! इस पास-बुक में भी एण्ट्री की जाती थी। इससे बच्चों के पास भी अपने पैसों का हिसाब रहता

फोटो: अमित

था। जैसे ही यह व्यवस्था जम गई, फिर दो बड़े बच्चों को बैंक का काम देखने के लिए तैयार किया गया। जिस बच्चे के बारे में शिक्षकों को लगता था कि वह पैसों की गड़बड़ी नहीं करेगा और हिसाब रख सकेगा, उसे ही यह काम सौंपा जाता था। स्कूल के मंत्री मण्डल में एक और मंत्री जुड़ गया - बैंक मंत्री!! शिक्षक भी बैंक मंत्री के साथ इस काम को देखते थे।

कुछ समय बाद देखा गया कि बच्चे दो-चार बार में ही अपने पैसे खत्म कर देते थे, आसपास की दुकानों से खाने का सामान खरीदकर। जब पेंसिल, रबर या कॉपी की ज़रूरत पड़ती तो पता चलता कि पैसे ही नहीं बचे हैं। और एक-आध बार ऐसा भी हुआ कि बैंक में पैसे होते हुए भी बच्चे के पास पेंसिल नहीं थी। वैसे बच्चे के पास पेंसिल न होना बहुत ही आम बात थी। प्रत्येक ग्रुप में दो-तीन बच्चे ऐसे होते ही थे जिनके पास लिखने-पढ़ने का पूरा सामान नहीं होता था और इस वजह से वे शिक्षक से नज़रें बचाने के लिए कुछ-न-कुछ हरकतें करते रहते थे ताकि शिक्षक समझ न पाए कि वह कुछ नहीं कर रहा है - जैसे यह जानते हुए भी कि बैग में पेंसिल नहीं है, बैग में हाथ डालकर ढूँढने का ढोंग करते रहना! बच्चों से पूछते तो वे कहते कि उन्होंने तो शिक्षक को बताया था लेकिन शिक्षक ने लाकर नहीं दी। कई बार रविवार को जब घर से कोई मिलने आता था तब बच्चे उन्हें इस बारे में बताते थे और वे हमसे शिकायत करते थे कि बच्चे के पास ये नहीं है, वो नहीं है। वे कहते कि वे तो सामान खरीदने के लिए बच्चे को

पैसे दे गए थे। हमें इस बात से बहुत शर्म आती थी कि हमें नहीं पता और घरवाले बता रहे हैं कि क्या कमी है।

इसलिए अब यह किया जाने लगा कि रविवार को जब बैंक खुलता था तो कई बार बच्चे को हाथ में पैसे न देकर, उन्हें जो भी सामान मँगवाना होता था, वो बैंक मंत्री को लिखवा दिया जाता। बैंक मंत्री उनके खाते से सामान के पैसे काट देता था और सामान की लिस्ट बनाता था। यदि बच्चे के खाते में यह ज़रूरी सामान खरीदने के बाद पैसे बचते तो उसे बिस्कुट आदि के लिए दे दिया जाता। स्कूल का सामान खरीदने जो भी जाता था, वह यह सब सामान भी ले आता था और बैंक मंत्री को सौंप देता था। वे बच्चों को उनका सामान दे देते थे। अब गड़बड़ी यह ही हो सकती थी कि बाज़ार से कुछ सामान लाना ही भूल गए। कई बार बैंक मंत्री किसी साथी के साथ जाकर चाटली में फिरोज़ की दुकान से ही सामान ले आता था। अधिकतर सामान यहाँ मिल जाता था।

साइकिल चलाने के लिए भी बच्चे बैंक से पैसे निकालते थे। छुट्टी के समय बच्चों को स्कूल की साइकिल किराए पर चलाने के लिए दी जाती थी। एक रुपया प्रति घण्टा। इसके लिए एक साइकिल मंत्री था जो साइकिल चलाने वालों की लिस्ट बनाकर बैंक मंत्री से बोलकर उनके खाते से पैसे कटवा देता था। बच्चे

उसके साथ जाकर यह ज़रूर देखते थे कि उनका पैसा उतना ही कटा है जितना काटना चाहिए कि नहीं।

बैंक व दुकान के बहाने शिक्षा

काफी कुछ सोचा गया बैंक के बारे में। आधारशिला में यह बैंक-व्यवस्था कई सालों तक चली। लेकिन ऐसी सभी गतिविधियों को किसी को चलवाना पड़ता है। अपने आप चलने पर तो ऐसे अतिरिक्त काम धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं।

इन सब बातों का लब्बोलुआब यह निकला कि इस मसले पर एक मीटिंग बुलाई गई जिसमें यह निर्णय हुआ कि एक दुकान शुरू की जाए। वाह! आधारशिला स्कूल में दुकान! क्यों नहीं?

शायद किसी टीचर ने ही यह सुझाव दिया हो, याद नहीं है। बाज़ार से सामान लाने में कोई समस्या थी क्या? दुकान के लिए भी तो बाज़ार से ही सामान लाना पड़ेगा। या थोक में लाने में कुछ फायदा था, जिस कारण यह दुकान शुरू की गई। यह भी सम्भव है कि हम लोगों को कुछ भी नया करने के विचार अच्छे लगते थे और खास तौर से तब तक जब तक कि वे एक झंझट न बन जाएँ! हाँ, यह बात हम पर बहुत फिट बैठती है। जब कोई ऐसा विचार आता था तो हम उसके बारे में लम्बी सोच पर निकल जाते थे।

जैसे बैंक को ही लें। धीरे-धीरे यह हमारे लिए केवल पैसों की व्यवस्था नहीं रह गई थी। इसमें हमें बच्चों के शिक्षण की सम्भावना नज़र आ गई थी। सोचा जाए तो यह बहुत बड़ी बात थी कि सातवीं-आठवीं का कोई बच्चा स्कूल के सौ से अधिक बच्चों के पैसों का लेखा-जोखा रख रहा था। इसके लिए उसे संख्याओं के साथ बहुत सहज होना पड़ता था जो बड़े-बड़ों के लिए आसान नहीं होता। प्रत्येक बच्चे का अलग-अलग पेज पर हिसाब रखना। फिर कुल पैसों का मिलान करना और देखना कि उतने पैसे हाथ में हैं या नहीं। यह बहुत मुश्किल होता था और हमें याद है कि कई बार हम या शिक्षक घण्टों तक इसमें सर खपाते रहते थे। हम सबके लिए बच्चों को पैसे देकर उनपर विश्वास करना भी बहुत बड़ी बात थी। इस बैंक में हम यह सब देखते थे। हालाँकि, बड़ी क्लास के चार-पाँच बच्चे ही सालभर में यह काम कर पाते थे लेकिन उनके लिए तो यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी और अनुभव होता था।

इसी तरह जब दुकान लगाने की बात हुई तब भी हमने इन्दौर के थोक बाज़ार के मूल्य, मण्डी, चाय के पैकेट पर लिखे दाम और दुकानदार के मुनाफे आदि पर बहुत-सी बातें कर लीं। हमने सोचा कि इस बहाने बच्चों को इन्दौर का थोक बाज़ार भी दिखा दिया जाएगा।

आधारशिला की एक खासियत यह भी थी कि बच्चों को जो भी अनुभव दिलवाया जा सकता था, उसे दिला दिया जाता था। बहुत ज़्यादा सफलता आदि का आगा-पीछा हम लोग नहीं सोचते थे, न ही किसी एक चीज़ को लेकर बहुत लम्बी योजना बनाते थे। कुछ चीज़ें चल पड़ती थीं, कुछ नहीं। इसके चलते बच्चों के साथ आधारशिला में बहुत-से विविध तरह के काम हुए।

बड़े लोग इसे पढ़कर यह महसूस कर सकते हैं कि जो व्यवस्था लोगों के लिए कुछ अच्छा सोचकर शुरू की गई, वो कैसे धीरे-धीरे उनके निर्णयों को कंट्रोल करने की ओर चली जाती है! लेकिन मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि यह एक अच्छा प्रयोग था। खास तौर से छोटे बच्चों को अपना पैसा रखने के लिए एक सुरक्षित जगह मिल गई थी। पैसे चोरी या छीन लिए जाने के डर से वे मुक्त हो गए थे। साथ ही, एक उदाहरण खड़ा हुआ जिसमें बच्चे अपनी व्यवस्था खुद ही चला रहे थे। साकड़ गाँव के इस टेकड़े पर एक छोटा-सी कम्युनिटी थी, जिसमें अधिकतर बच्चे थे जो खुद के विभिन्न तरह के काम अपने आप करने की कोशिश कर रहे थे। ऐसी ट्रेनिंग किसी भी समाज के लिए एक अच्छी बात ही है।

अमित और जयश्री: लगभग तीन दशकों से पश्चिम मध्य प्रदेश में भील, भीलाला, बारेला आदिवासियों के बीच में रह रहे हैं। साथ ही, खेड़ूत मज़दूर चेतना संगठ, नर्मदा बचाओ आन्दोलन व पश्चिम भारत प्रवासी मज़दूर संघ के साथ-साथ आदिवासियों के अन्य संघर्षों के साथ भी खड़े हैं। 1998 से आदिवासी बच्चों व युवाओं की शिक्षा के लिए काम कर रहे हैं।

सभी चित्र: अक्षया भगवतुला: विशाखापट्टनम, आंध्र प्रदेश की एक एनिमेटर और इलस्ट्रेटर हैं। वर्तमान में, पुणे के एमआईटी इंस्टीट्यूट ऑफ डिज़ाइन से डिज़ाइन में स्नातक की पढ़ाई कर रही हैं। उन्हें फोटोग्राफी, इलस्ट्रेशन करना और फिल्में पसन्द हैं।